

“यशपाल के 'दिव्या' में श्रम, संपत्ति और सामाजिक संबंध : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन ”

डॉ. प्रियंका नायक

सहायक आचार्य, दीन दयाल उपाध्याय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

सारांश

यशपाल का उपन्यास 'दिव्या' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी अपने भीतर तत्कालीन तथा आधुनिक सामाजिक जीवन से जुड़े अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों को समेटे हुए है। उपन्यास में वर्णित सामाजिक संरचना को केवल राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से देखना पर्याप्त नहीं है। इसके केंद्र में श्रम, संपत्ति, आर्थिक असमानता और उससे निर्मित सामाजिक संबंधों की जटिल संरचना भी विद्यमान है। यह उपन्यास स्त्री- प्रश्न को भावनात्मक या नैतिक धरातल से उठाकर श्रम और संपत्ति की संरचना के साथ जोड़ता है। जिससे दिव्या की स्थिति एक व्यक्तिगत त्रासदी के साथ-साथ सामाजिक आर्थिक परिघटना के रूप में भी दिखाई देती है। इस प्रकार दिव्या में श्रम, संपत्ति और सामाजिक संबंध परस्पर संरचनाओं के रूप में सामने आते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में 'दिव्या' के संदर्भ में 'श्रम' और 'संपत्ति' को सामाजिक सत्ता के महत्वपूर्ण आधारों के रूप में देखते हुए उनके पारस्परिक संबंधों के विश्लेषण का प्रयास किया गया है।

यशपाल का साहित्यिक व्यक्तित्व उनके राजनीतिक अनुभव से अलग नहीं किया जा सकता। क्रांतिकारी आंदोलन से जुड़ाव, जेल जीवन का अनुभव और बाद में मार्क्सवादी चिंतन की ओर झुकाव, इन सब ने उनके कथा साहित्य को एक ऐसी दृष्टि दी जिसमें समाज को स्थिर और स्वाभाविक व्यवस्था के रूप में नहीं बल्कि ऐतिहासिक रूप से निर्मित और इसलिए सहज परिवर्तनीय संरचना के रूप में देखा जा सकता है। उनके उपन्यासों में चाहे वह विभाजन के संदर्भ हों या मध्यवर्गीय जीवन के चित्रण, यही दृष्टि दिखाई देती है कि व्यक्ति के निर्णय भी सामाजिक और आर्थिक दबाव से अछूते नहीं होते।

उपन्यास में श्रम करने वाले और संपत्ति पर अधिकार रखने वाले वर्गों की बीच मौजूद अंतर सामाजिक प्रतिष्ठा, अधिकार और निर्णायक क्षमता को प्रभावित करता दिखाई देता है। संपत्ति केवल आर्थिक संसाधन न रहकर सामाजिक शक्ति का माध्यम बन जाती है। जबकि श्रम करने वाला व्यक्ति अनेक स्तरों पर निर्भरता और असमानता का सामना करता है। इस संदर्भ में दासता, आर्थिक निर्भरता और सामाजिक प्रतिष्ठा जैसे प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

"प्रत्येक युग का साहित्य अपने समाज की उपज होता है साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य के चारों ओर सदियों से बने रहस्य में प्रभामंडल को अनावृत करते हुए साहित्य के सामाजिक रूप और अर्थ को उजागर करता है।" ¹ इसी संदर्भ में साहित्य के समाजशास्त्र को साहित्य की सामान्य व्याख्या से अलगाते हुए मैनेजर पांडे लिखते हैं "उसका लक्ष्य साहित्य कृति की सामाजिक अस्मिता की व्याख्या है यह अस्मिता रचना के सामाजिक संदर्भ और सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है।" ² इस प्रकार मैनेजर पांडेय साहित्य को सामाजिक संरचना, वर्गीय अंतर विरोध, उत्पादन संबंध, सत्ता और जनजीवन के संदर्भ में देखने की कोशिश करते हैं।

इस अध्ययन की मूल मान्यता यह है कि 'दिव्या' में श्रम, संपत्ति और सामाजिक संबंध एक दूसरे से पृथक नहीं हैं। बल्कि वे मिलकर सामाजिक सत्ता और असमानता की संरचना निर्मित करते हैं। यशपाल ऐतिहासिक परिवेश के माध्यम से ऐसे प्रश्नों को उठाते हैं जिनकी प्रासंगिकता आधुनिक समाज से बनी हुई है। हालांकि यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'दिव्या' इतिहास की पाठ्यपुस्तक नहीं है। यशपाल ने अपने

समय की दृष्टि से अतीत को रचा है अतः दिव्या का समाजशास्त्रीय और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन उपन्यास की अंतर्वस्तु को समझने के लिए उपयोगी आधार प्रदान करता है।

उपन्यास की भूमिका में यशपाल लिखते हैं " परिवर्तन का सत्य ही इतिहास का तत्व है परंतु परिवर्तन की श्रृंखला में अपने अस्तित्व की रक्षा और विकास के लिए व्यक्ति और समाज का निरंतर प्रयत्न विद्यमान रहा है... इतिहास विश्वास की नहीं विश्लेषण की वस्तु है।"³

यशपाल के लिए इतिहास अतीत की मनोरंजक पुनर रचना नहीं था वह मनुष्य के सामाजिक संबंधों के निर्माण और टूटने की प्रक्रिया का साक्षी था। इसलिए 'दिव्या' का प्रश्न केवल यह नहीं है कि दिव्या ने क्या सहा और क्या चुना ,बल्कि यह भी है कि वह किस समाज में जी रही थी ,उसे समाज में किसके पास क्या था, किसके श्रम पर कौन जी रहा था और किसे यह तय करने का अधिकार था कि दूसरे का जीवन किस दिशा में जाएगा।

इस शोध पत्र का केंद्रीय विचार यही है कि दिव्या में यशपाल ने श्रम, संपत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के पारस्परिक संबंध को कथा के भीतर इस प्रकार रचा है कि प्राचीन भारतीय समाज की विषमताएं केवल पृष्ठभूमि नहीं रह जाती। बल्कि वे पात्रों के संबंधों उनकी स्वतंत्रता और उनकी नियति को आकार देने वाली शक्तियां बन जाती हैं। अर्थात् उपन्यास में संबंध पहले है और अर्थ बाद में ऐसा नहीं है। बल्कि संबंधों को स्वयं एक आर्थिक ,सामाजिक ढांचा निर्धारित करता है और वह ढांचा श्रम से आरंभ होकर संपत्ति और सत्ता तक पहुंचता है।

दिव्या पर पहले हुआ अधिकांश लेखन तीन प्रवृत्तियों में बात दिखाई देता है। पहली, उपन्यास को स्त्री स्वतंत्रता या नारी अस्मिता की गाथा के रूप में पढ़ने वाली दृष्टि, दूसरी दृष्टि उसे ऐतिहासिक उपन्यास की परंपरा में रखकर उसकी प्रामाणिकता और शिल्प की परख करने वाली दृष्टि, तीसरी यशपाल की मार्क्सवादी प्रतिबद्धता के आधार पर उसे सामान्य रूप से प्रगतिशील उपन्यास कहकर निपटा देने वाली दृष्टि इन तीनों दृष्टियों की अपनी अपनी वैधता है पर तीसरी दृष्टि ठोस रूप में दिखाई पड़ती है। दिव्या की सामाजिक दृष्टि को समझने में सबसे उपयोगी कुंजी श्रम और संपत्ति के संबंध की वह श्रृंखला है, जो उपन्यास के हर महत्वपूर्ण प्रसंग में किसी न किसी रूप में पात्र के जीवन प्रसंग में संवाद में और संरचनात्मक निर्णय के रूप में पुनः उपस्थित होती है।

दिव्या उपन्यास का परिवेश प्राचीन भारत है। जहां गणराज्य ,वाह्य आक्रमण ,धार्मिक ,दार्शनिक विवाद, और दास प्रथा सब एक साथ मौजूद हैं। पर यशपाल की रुचि इन बड़ी घटनाओं के इतिहास वर्णन से अधिक इस बात में दिखती है कि उनके भीतर एक स्त्री और उसके आसपास के लोग किन सामाजिक स्थितियों में जीते हैं। यही वह बिंदु है जहां श्रम और संपत्ति का प्रश्न उपन्यास में प्रवेश करता है। इसलिए विश्लेषण के दो स्तर हैं। एक तो उपन्यास जिस समाज को चित्रित करता है और दूसरा उस चित्रण के पीछे लेखक की वैचारिक दृष्टि। लेकिन दूसरी दृष्टि को लेकर चलने के बावजूद पहली के बिना यह संभव नहीं। दिव्या की भूमिका में वे लिखते हैं "मनुष्य से बड़ा है केवल उसका अपना विश्वास और उसका ही रचा हुआ विधान। अपने विश्वास और विधान के सम्मुख ही मनुष्य विवशता का अनुभव करता है और स्वयं ही उसे बदल भी देता है।"⁴

यह उपन्यास चूंकि 20वीं सदी के चौथे दशक के लेखक की रचना है इसलिए प्राचीन समाज का उसका चित्रण स्वयं उसके समय की बहसों यानि राष्ट्रीय आंदोलन सामाजिक सुधार और मार्क्सवादी प्रभाव से रंगा है। वर्तमान की छाया को अनदेखा करने पर हम उपन्यास को अतीत का साक्ष्य और लेखक का वैचारिक वक्तव्य दोनों मानने की भूल कर सकते हैं।

किसी भी समाज में श्रम की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है।

दिव्या में यशपाल ने जिस समाज को चित्रित किया है उसमें समाज कई वर्गों में बंटा हुआ है। प्रत्येक समाज में श्रम करने वाले व्यक्ति को समान सामाजिक सम्मान अथवा धार्मिक अधिकार प्राप्त हों यह आवश्यक नहीं है। जब मनुष्य अपने ही श्रम से वंचित हो जाता है तो इससे सामाजिक विषमता का निर्माण होता है। मार्क्स का विचार था कि श्रम केवल शारीरिक तौर पर की जाने वाली मेहनत नहीं है, बल्कि वह मूल मानवीय कर्म है जिससे मनुष्य वाह्य प्रकृति को रूपांतरित करता है और साथ ही साथ स्वयं को भी रचता है (1844- कैपिटल)। जिस समाज में उत्पादक और उपभोक्ता अर्थात् श्रम करने वाला और श्रम का फल भोगने वाला भिन्न वर्गों में होते हैं वहां असमानता संरचनात्मक हो जाती है। जब श्रम और संपत्ति के बीच आसमान संबंध स्थापित होते हैं तब सामाजिक विषमता और सत्ता संबंधों का निर्माण होता है। दिव्या में भी श्रम, आर्थिक स्थिति

और सामाजिक प्रतिष्ठा के बीच के संबंधों को विभिन्न पात्रों और प्रसंग के माध्यम से देखा जा सकता है। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है।

"यदि प्रत्येक कुल सामंत कुल का पद और अधिकार पा सके तो अभिजात कुल का अधिकार क्या रहेगा?... धर्म स्थान में इस प्रश्न का निर्णय समाज की व्यवस्था का प्रश्न है।"⁵

उपन्यास में श्रम का प्रश्न सबसे तीखे रूप में दास प्रथा के प्रसंग में सामने आता है, जहां मनुष्य का श्रम ही नहीं उसका शरीर और जीवन भी क्रय-विक्रय की वस्तु बन जाता है। इस संदर्भ में अनेक दास- दासियों की स्थिति को प्रतुल के माध्यम से दर्शाया गया है-

"दास-दासियों के रूप में मनुष्यों का व्यवसाय करते रहने के कारण अनेक श्रेणी के मनुष्यों के शरीरों और स्वभावों की सूक्ष्मताओं से उसी प्रकार परिचित था, जैसे कुम्हार अनेक स्थानों की मिट्टी, उससे बने पत्रों की उपयोगिता और मूल्यों से अवगत रहता है।"⁶

इसी संदर्भ में दासी छाया की स्थिति और स्वयं दिव्या भी दासी के रूप में जब दारा बनकर विभिन्न कष्टों को सहन करती है तो दास- जीवन की अंतर व्यथा सामने आती है-

"दारा स्वयं ही अपनी तुलना गाय से करती। केवल उसके गले में रस्सी न थी। रस्सी न होने पर भी वह गाय की भांति विवश थी। वह अनुमान करती की गाय का हृदय भी अन्याय की भावना और प्रति हिंसा अनुभव करता है या नहीं? यदि नहीं तो क्यों?... दासी होकर अपने शरीर को अपना समझना उसके विश्वास में पाप था परंतु वह विवश थी। वह सोचती उसकी संतान को जीवन के पोषण के लिए अधिकार क्यों नहीं?"⁷

उपन्यास में पृथुसेन पृथुसेन के माध्यम से भी दास जीवन की विडम्बना को दर्शाने का प्रयास किया गया है। पिता के दास से सागल गणराज्य के सभ्रांत लोगों में शामिल होने बावजूद पृथु सेन को अपमान सहन करना पड़ता है। उसके भीतर असुरक्षा के भाव स्वगत कथन के माध्यम से देखा जा सकता है-

"पृथु सेन घायल व्याघ्र के समान क्रोध से काँपता हुआ... क्षुब्ध और विह्वल हो उठा - जन्म का अपराध? यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार संभव है? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति, विद्या की शक्ति, कोई भी शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती। कोई भी उपाय जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकता।"⁸

दिव्या उपन्यास में संपत्ति का प्रश्न भी इस संदर्भ में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। संपत्ति केवल भौतिक संसाधनों का संग्रह नहीं होती बल्कि उसके साथ सामाजिक अधिकार प्रतिष्ठा और निर्णय लेने की शक्ति भी जुड़ जाती है। दूसरी ओर संपत्ति से वंचित व्यक्ति की स्थिति अक्सर निर्भरता और असुरक्षा से निर्धारित होती है। संपत्ति तब तक निष्क्रिय रहती है जब तक वह निर्णय क्षमता में रूपांतरित नहीं होती। आर्थिक शक्ति का अर्थ है दूसरों को खरीदने संरक्षण देने या दंडित करने की क्षमता। ऋण देने या आश्रय देने का अधिकार और अपने हितों के अनुसार नियम बदलवाने की सामर्थ्य। उपन्यास में धर्मस्थ देव शर्मा दिव्या के महत्वपूर्ण प्रश्न "धर्म स्थान के सम्मुख तो सभी नागरिक समान है" का उत्तर देते हुए कहते हैं -

"धर्मस्थान कोई स्वयंभू या स्वतंत्र वस्तु नहीं है वह केवल समाज की भावना और व्यवस्था की जिह्वा है इतने समय पर्यंत न्याय की व्यवस्था देने से मैं समझ पाया हूँ कि न्याय व्यवस्थापक के अधीन है।"⁹

यहां विश्लेषण आर्थिक क्षेत्र से सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री पियरे बॉर्डियू में यह दिखाया की आर्थिक पूंजी के साथ-साथ सांस्कृतिक और प्रतीकात्मक पूंजी भी होती है और यह एक दूसरे में रूपांतरित हो सकती हैं। धन- प्रतिष्ठा में, प्रतिष्ठा- सत्ता में। प्राचीन भारतीय संदर्भ में वर्ण-कुल और धार्मिक मान्यता प्रतीकात्मक पूंजी के रूप थे। दिव्या में ब्राह्मण श्रेष्ठ था। राजकीय पद और धार्मिक संस्थाओं की भूमिका इसी प्रतीकात्मक पूंजी के उदाहरण हैं। उपन्यास के सामाजिक संसार में धर्म और राज्य की भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण है। प्राचीन समाज में धार्मिक संस्थाएं न केवल नैतिक व्यवस्था देती थी बल्कि दान भूमि और संरक्षण के माध्यम से आर्थिक शक्ति का भी केंद्र थी। राज्य या गणराज्य का तंत्र कर, दंड और सुरक्षा के द्वारा उत्पादन संबंधों को वैधता देता था।

इस प्रकार आर्थिक संबंध सामाजिक संबंधों को प्रभावित करते हैं। दिव्या के अध्ययन में यह सहज रूप से देखा जा सकता है कि आर्थिक संसाधनों का वितरण किस प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा और मानवीय संबंधों को प्रभावित करता है। यशपाल इस उपन्यास में दिखाते हैं की सारी शक्ति पाने के बावजूद पृथु सेन से अपनी स्थिति का आकलन करता है तो पाता है-

"पृथुसेन प्रकट वैभव और शक्ति के तल में अपनी वास्तविक विवशता जानकर खिन्न हो उठा-उसकी संपूर्ण शक्ति और महिमा की प्रतीक वही सीरो थी। सीरो के पति के रूप में वह मद्र गणपति का उत्तराधिकारी महासामंत था अन्यथा अभिजात कुल का सम्मान पाने की स्पर्धा के लिए निरादृत दास पुत्र"।¹⁰

यहां प्रश्न यह है की प्रेम, मित्रता, विवाह और विश्वास जैसे सबसे निजी संबंध उस आर्थिक- सामाजिक ढांचे से कितने स्वतंत्र हैं? यशपाल का उत्तर सहज नहीं है। उपन्यास में इसे दिखाया गया है कि निजी भावनाएं वास्तविक है, पर उनके प्रकट होने और टिकने की स्थितियां सामाजिक-शक्ति-संबंधों से नियंत्रित होती हैं। दिव्या के प्रेम, उसके अपमान और उसकी आत्म- खोज को इसी प्रकाश में पढ़ने पर यह स्पष्ट होता है कि उसकी व्यक्तिगत त्रासदी सामाजिक संरचना का परिणाम भी है।¹¹ सन 45 में जब दिव्या का प्रकाशन हुआ हिंदी में प्रगतिवादी आंदोलन तेज हो रहा था। दलित चेतना और नारीवादी आंदोलनों के प्रभाव में यह चेतना विकसित हुई की समाज में नारी सबसे दलित है। यशपाल दिव्या में नारी की इसी दलितावस्था को सामाजिक संरचना से जोड़ कर देखते हैं। सारी विपरीत परिस्थितियों में भी वे उसकी प्रेमा नुभूति को जड़ होने से बचने पर बल देते हैं क्योंकि वही सृष्टि की नियमिका शक्ति है।¹¹

इस शोध पत्र का कोई सबसे नवीन पक्ष हो सकता है तो वह यह है कि दिव्या में एक स्त्री की स्थिति को केवल भावनात्मक या नैतिक प्रश्न के रूप में नहीं बल्कि श्रम और संपत्ति के प्रश्न के रूप में पढ़ा जाए। स्त्री का शरीर, उसकी कला और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा यह तीनों उपन्यास में अलग-अलग स्थितियों में अलग-अलग मूल्य पाते हैं। कभी वह सम्मान के योग्य मानी जाती है, कभी वह वस्तु की तरह लेन- देन में काम आती है और कभी स्वयं अपने भाग्य का निर्णय करने की चेष्टा करती है। यह अंतर विरोध ही उपन्यास का नाटकीय और वैचारिक ईंधन है।

आलोचक अजय तिवारी दिव्या उपन्यास को व्याख्या करते हुए लिखते हैं -"पृथुसेन को जन्म के कारण अपमान सहना पड़ता है। उसकी अधिकार चेतना उसे महत्वाकांक्षी बनाती है। वह दिव्या को भी छोड़ देता है। दिव्या पुरुष सत्ता की यातनाओं का मूर्तिमान प्रतिबिंब है। उसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए दिव्या से दारा और दारा से अंशुमाला तक लंबी यात्रा करनी पड़ती है। सभ्रांत युवती से दासी बनते हुए, नर्तकी तक का उसका विकास अनेक परिस्थितियों में ढल कर स्वतंत्र विवेक और साहस अर्जित करने का निमित्त बन जाता है। इसलिए वह निर्णय कर पाने में सक्षम होती है।"¹²

यहां दो खतरों से बचाना आवश्यक है पहले खतरा यह है कि दिव्या को केवल शोषण पत्र के रूप में देखा जाए, उपन्यास उसे 'कर्ता' के रूप में भी करता है जो परिस्थितियों से टकराती है और उसका अर्थ बदलने का प्रयास करती है। दूसरा खतरा यह है कि उसकी व्यक्तिगत दृढ़ता को इतना महिमामंडित कर दिया जाए कि सारी संरचनात्मक बाधाएं अदृश्य हो जाएं। एक संतुलित पाठ दोनों को साथ रखता है। संरचना सीमाएं तय करती है पर उन सीमाओं के भीतर पात्र का निर्णय अर्थपूर्ण बना रहता है।

संदर्भ सूची-

1. गोपाल प्रधान (संपादक -शंभू नाथ) हिंदी साहित्य ज्ञान कोष ,खंड 7, भारतीय भाषा परिषद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली पृष्ठ- 4102
2. वही।
3. यशपाल, दिव्या, लोकभारती पेपर बैक्स इलाहाबाद, 2017 (प्राक्कथन)।
4. वही

5. यशपाल ,दिव्या ,लोकभारती पेपर बैग्स, इलाहाबाद ,2017 पृष्ठ- 20
6. वही पृष्ठ-86
7. वही पृष्ठ- 88
8. वही पृष्ठ- 12
9. वही पृष्ठ- 20
10. वही पृष्ठ 128
11. मधुरेश, यशपाल: रचनात्मक पुनर्वास की एक कोशिश, आधार प्रकाशन पंचकूला हरियाणा प्रथम पेपर बैग संस्करण 2006 पृष्ठ- (176-77)
12. अजय तिवारी, कुंवर पाल सिंह (सं)वर्तमान साहित्य, यशपाल विशेषांक ,यतेंद्र सागर ,गाजियाबाद पृष्ठ- 203